# शाक्ततन्त्र में पराशक्ति का काली स्वरूप


## विवेक शर्मा

सह-प्राध्यापक संस्कृत विभाग,
टी. एस. नेगी राजकीय महाविद्यालय, रीकांगपीओ
Viveksharma0584@gmail.com



### *शोध सार :*

*प्राचीन काल से भारतवर्ष में शक्ति की परमतत्त्व के रूप में साधना की जाती रही है। शक्ति के भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। इनके अनेक स्वरूपों में काली स्वरूप सर्वाधिक विस्मयकारी है। सामान्य जन की इस काली स्वरूप के प्रति अनेक शंकाएँ हैं। प्रस्तुत पत्र में शाक्ततन्त्र में प्रतिपादित काली स्वरूप का सामान्य जनों की शंकाओं के सन्दर्भ में विचार करके पराशक्ति के काली स्वरूप के तात्त्विक पक्ष को जानने का प्रयास किया गया है। इस तात्त्विक चिन्तन के लिए प्रस्तुत पत्र में न्याय-वैशेषिक, सांख्य, शांकर-वेदान्त, ज्योतिष शास्त्र तथा शैव-शाक्ततन्त्रों की दार्शनिक दृष्टियों का आश्रय लिया गया है।*


भारतवर्ष प्राचीन काल से ही दैवी आस्था का केन्द्र रहा है। वर्तमान भारतवर्ष में जितने धर्म, सम्प्रदाय तथा मान्यताएँ एक साथ अनेकता में एकता को लेकर विकसित हो रहे हैं, वह अन्य किसी देश का गौरव नहीं हैं। अनेक धर्मों में से हिन्दु धर्म के विषय में जानने पर प्रमुख रूप से वैदिक तथा तान्त्रिक ज्ञानधराओं से परिचय प्राप्त होता है।

तन्त्रों में शाक्ततन्त्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधनामार्ग है। शाक्ततन्त्र के अभिधान से जैसा कि समझा जा सकता है, शाक्ततन्त्र 'शक्ति से सम्बन्धित तंत्र' अथवा शक्ति के साधक 'शाक्तों का तन्त्र' है। [1,p.1062] अतः शक्ति ही शाक्ततंत्र का प्रधान विषय है। शक्ति का कभी भी नाश नहीं होता है, किन्तु सृष्टि, स्थिति तथा संहार विश्व में शक्ति से ही होता है। विश्वरूपिणी इस शक्ति को शाक्ततन्त्र में सभी शक्तियों की अन्तिम सीमा के रूप में पराशक्ति कहा जाता है। शक्ति की मान्यता आधुनिक विज्ञान में भी स्वीकृत है। किन्तु वहाँ शक्ति जड़ ही है। जबकि शाक्ततन्त्र में पराशक्ति को चितिशक्ति कहा जाता है। {२, श्लो.५/८०} इस पराशक्ति की साधना से साधक भोग तथा मोक्ष दोनों को ही प्राप्त करता है। {२, श्लो.१३/ } ।

साधना के प्रथम चरण में साध्य के स्वरूप का ध्यान करने का विधान है। शाक्ततन्त्र में पराशक्ति के अनेकों स्वरूप हैं जिनमें पराशक्ति का काली स्वरूप सर्वाधिक विस्मयकारी है। इनके ध्यानानुमोदित स्वरूप पर दृष्टि डालें :-

**शवारूढां महाभीमां घोरदंष्ट्रां हसन्मुखीम् ।।**
**चतुर्भुजां खड्गमुण्डवराभयकरां शिवाम् ।**
**मुण्डमालाधरां देवीं ललज्जिह्वां दिगम्बराम् ।**
**एवं संचिन्तयेत् कालीं श्मशानालयवासिनीम् ।। {३, श्लो.१-२}**

'वह महाकाली मूर्दे पर सवार है। उसकी शरीराकृति महाडरावनी है। उसकी दष्ट्रा बड़ी तीक्ष्ण अतएव महाभयावह है। ऐसे महा भयानक रूपवाली वह हँस रही है। उसके चार हाथ हैं। एक हाथ में खड्ग है, एक में नरमुण्ड है, एक में अभय-मुद्रा है, एक में वर है। गले में मुण्डमाला है। जिह्वा बाहर निकल रही है। वह सर्वथा नग्न है। श्मशान ही उसकी आवासभूमि है।' पूर्वोक्त ध्यान का यही अक्षरार्थ है। अन्यत्र पराशक्ति के काली (दक्षिण कालिका) स्वरूप का इस प्रकार ध्यान करने का भी निर्देश है। इस पर दृष्टि डालें :-

**गतासूनां बाहुप्रकरकृतकांचीपरिलसन्नितम्बां दिग्वस्त्रां त्रिभुवनविधात्रीं त्रिनयनां ।**
**श्मशानस्थे तल्पे शवहृदि महाकालसुरतप्रयुक्तां त्वां ध्यायन् जननि जड़चेता अपि कविः ।।**
**शिवाभिर्घोराभिः शवनिवहमुण्डास्थिनिकरैः परं संकीर्णायां प्रकटित-चितायां हरवधूं ।**
**प्रविष्टां सन्तुष्टामुपरिसुरतेनातीयुवतीं सदा त्वां ध्यायन्ति क्वचिदपि च न तेषां परिभवः ।। {४, श्लो.७-८}**

'हे जननि ! मृतों की भुजाओं के हाथों से निर्मित कांची (कटिभूषण) से शोभावाले नितम्बवाली; दिगम्बरी; तीनों लोकों की विधनकत्री; त्रिनयन तथा श्मशान में स्थित शव के हृदय रूपी शय्या पर स्थित, महाकाल के साथ रतिक्रीडा में लगी हुई, तुम्हारा ध्यान करता हुआ मन्दबुद्धि मनुष्य भी कवि हो जाता है। जो-घोर शिवाओं (श्रृंगालिनों) से युक्त शव समुहों के कंकालों सें अत्यन्त संकीर्ण चिता में प्रविष्ट महाकाल से विपरीत रति से सन्तुष्ट; युवति; हरवधु-तुम्हारा सदा ध्यान करते रहते हैं, उनका कभी भी परिभव नहीं होता है।' यह पूर्वोक्त श्लोकों का अक्षरार्थ है।

पराशक्ति के काली स्वरूप के इन दोनों ही ध्यानों से सामान्य रूप से यही अर्थ निकलता है कि पराशक्ति का काली स्वरूप अतिभयावह है। श्मशान ही इनकी आवासभूमि है। यह नग्न है तथा कुछ धारण भी किया है, तो मुण्डों की माला तथा मृतों के हाथ की कांची । चिता अथवा शव पर यह महाकाल के साथ सम्भोग में संलग्न है। पराशक्ति के इस प्रकार के विचित्र, भयावह तथा अश्लील ध्यान की परिकल्पना से ही सामान्य जन का मानसिक तनाव से ग्रस्ति होना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार के ध्यानानुमोदित स्वरूप को विचारकर जिज्ञासु के मन में सहज ही यह प्रश्न उठता है कि इस प्रकार के अश्लील, भयावह, कुत्सित स्वरूप के ध्यान से कोई साधक किस प्रकार की साधना करेगा तथा उससे भोग और मोक्ष की प्राप्ति कैसे सम्भव है। साधना में सामान्य नियम यह भी है कि **'देवो भूत्वा यजेद्देवम्'** अर्थात् जिस प्रकारा आराध्य का स्वरूप है तत्सदृश होकर ही आराधना की जाए। यदि साधक पराशक्ति के पूर्वोक्त काली स्वरूप के अक्षरार्थ को ध्यान में रखकर साधना के लिए प्रयत्न करेगा तब तो निश्चित रूप से उसे श्मशान में नग्न होकर पशुबलि से लेकर नरबलि तक को देते हुए, रुधिर-अस्थि से युक्त हो, किसी शव पर किसी के साथ रति क्रीडा का आनन्द लेना होगा। ऐसी स्थिति की परिकल्पना करना भी वस्तुतः भारतीय गौरवपूर्ण उदार संस्कृति तथा धर्मपरायण परिचर्या के प्रति कुठाराघात है।

यहाँ यह भी ध्यानदेय है कि प्राचीनकाल से भारतवर्ष में विशेषकर पूर्वी भारत में (शारदीय) नवरात्र तथा दीपावली के विशेष अवसरों पर शाक्तों द्वारा पराशक्ति की (विशेष रूप से काली स्वरूप) की पूजा-अर्चना तथा साधना की जाती है।

अतः यह विचार करना अत्यावश्यक हो जाता है कि शाक्ततन्त्र में अनुमोदित पराशक्ति के इस काली स्वरूप के मध्य में कोई तात्त्विक पक्ष या रहस्यार्थ भी है या नहीं? अर्थात् भयंकर, नग्न, श्मशानवासी स्वरूप का कोई तर्क सम्मत आधर भी है या नहीं? पराशक्ति के स्वरूप के तात्त्विक पत्र की खोज के लिए सम्यक् मार्ग तो यही प्रतीत होता है कि काली स्वरूप के प्रमुख रूप से कुत्सित प्रतीत होने वाले विषयों यथा शव पर काली की महाकाल से रति या विपरीत रति, भयंकर आकृति, गले की मुण्डमाला इत्यादि का दार्शनिक या वैज्ञानिक पक्ष यदि सम्भव हो, तो उसे जानने का प्रयत्न किया जाए।

'पराशक्ति' काली स्वरूप में महाकाल से रति में संलग्न रहती हैं। अतः यह समझा जा सकता है कि महाकाल अर्थात परमशिव एवं पराशक्ति का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध किस प्रकार का है, इसके अवबोध के लिए सर्वप्रथम सम्बन्ध-तत्त्व पर भारतीय दार्शनिक दृष्टिकोण को जानकर पुनः शाक्त दर्शन का परिचय प्राप्त करना होगा।

सम्बन्ध-तत्त्व भारतीय षड्दर्शनों का प्रधान विवेच्य विषय है। सम्बन्ध-तत्त्व की व्याख्या में भारतीय दार्शनिकों की भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ अन्तर्निहित हैं। न्याय-वैशेषिक की सम्मिलित दृष्टि ने सम्बन्ध-तत्त्व को एक पृथक् पदार्थ के रूप में स्वीकार किया है। सम्बन्ध के दो भेद कहे गए हैं :- अनित्य सम्बन्ध तथा नित्य सम्बन्ध । संयोग को अनित्य सम्बन्ध माना गया है क्योंकि वियोग होने पर संयोग का नाश हो जाता है। {५, पृ.१०६} इसके विपरीत समवाय नित्य सम्बन्ध है। {६, पृ.१३०-१३१} संयोग तथा समवाय-दोनों ही सम्बन्धों का नाश हो सकता है। परन्तु इन दोनों में भेद यह है कि जब दोनों पदार्थों (सम्बन्धियों) के नष्ट हुए बना ही सम्बन्ध का नाश हो जाता है, तो वह संयोग है तथा जब किसी एक पदार्थ (सम्बन्धी) के नष्ट होने पर ही सम्बन्ध का नाश होता है, तो वह समवाय है। {६, पृ.१३०-१३१} इस प्रकार पुस्तक तथा हाथ के इकट्ठे होने का सम्बन्ध, दण्ड और घट के इकट्ठे होने का सम्बन्ध इत्यादि सम्बन्ध 'संयोग' हैं तथा पुस्तक और पुस्तक के पृष्ठों का सम्बन्ध, पट और तन्तुओं का सम्बन्ध इत्यादि सम्बन्ध 'समवाय' हैं।

सांख्य की दृष्टि में कारण से ही कार्य की अभिव्यक्ति होती है। {७, का.६} पुरुष तथा प्रकृति में संयोग सम्बन्ध है, किन्तु प्रकृति से अभिव्यक्त होने वाले पदार्थों तथा प्रकृति में तादात्म्य अर्थात् ऐक्य है। {७, का.१०} प्रकृति तथा प्रकृति के पदार्थों में कोई भेद नहीं है। प्रकृति है कारण तथा महत्, अहंकार आदि हैं 'कार्य' । {७, का.६} जिस प्रकार कछुआ जब अपने अंगों को फैला देता है, तो वे अंग कछुए से भिन्न प्रतीत होते हैं तथा जब वह अपने अंगों को सिकोड़ लेता है, तो वे अंग कछुए से अभिन्न प्रतीत होते हैं। {७, का.६} इसी प्रकार प्रकृति रूप कारण से महद् आदि कार्यों के अभिव्यक्त होने पर वे कार्य, कारण से भिन्न प्रतीत होते हैं तथा पुनः महद् आदि कार्य प्रकृति रूप कारण में लीन होने पर कारण से अभिन्न प्रतीत होते हैं। {७, का.६} अतः न्याय-वैशेषिक में जिस सम्बन्ध को 'समवाय' के रूप में प्रतिपादित किया गया है सांख्य में उसे तादात्म्य अर्थात् ऐक्य के रूप में प्रतिपादित किया गया है। न्याय और वैशेषिक कारण को कार्य से भिन्न मानते हैं, इसीलिए समवाय सम्बन्ध मानते हैं। सांख्य व्यवहार में तो कारण और कार्य में भेद स्वीकार करता है किन्तु अन्ततः दोनों में तादात्म्य (ऐक्य) ही मानता है।

शांकर वेदान्त की दृष्टि में सभी सम्बन्ध मिथ्या हैं। {८, श्लो.२०} कारण और कार्य का सम्बन्ध मायिक होने के कारण माया के अनावृत होने पर केवल कारण रूप ब्रह्म की सत्ता ही शेष रहती है। {८, श्लो.२०३-२०४} सम्बन्ध को मिथ्या मानने पर भी शांकर वेदान्त में भी सम्बन्ध का विशेष स्थान है। क्योंकि यदि सम्बन्ध को स्वीकार न किया जाए तो व्यवहार में बाधा हो जाती है। अतः शांकर वेदान्त में अविद्या, माया, तथा अध्यास के द्वारा सम्बन्ध को मिथ्या सिद्ध करते हुए परम सत्य का व्यावहारिक सत्य से सम्बन्ध जोड़ा गया है। {८, श्लो.१२३; ६, पृ.१७}

इस प्रकार 'सम्बन्ध' ऐसा तत्त्व है जिसके दो पक्ष हैं-अनित्य सम्बन्ध और नित्य सम्बन्ध । अनित्य सम्बन्ध तो व्यवहार सत्ता में 'संयोग' के रूप में सभी को मान्य है। किन्तु प्रश्न उठता है 'परम नित्य तत्त्व का अनित्य तत्त्वों से सम्बन्ध का । अतः समवाय, तादात्म्य तथा मिथ्या-तीन प्रकार के सम्बन्ध सामने आते हैं। इन सम्बन्धों के मूल में तीन दृष्टियाँ हैं :- अभेद सहिष्णु भेद, भेद सहिष्णु अभेद तथा भेद असहिष्णु अभेद ।

शैव-शाक्तों के तत्त्व-विचार में भेद, भेदाभेद, अभेद तथा अत्यन्त अभेद के सामरस्य के दर्शन होते हैं। 'माया' तत्त्व से लेकर 'पृथ्वी' तक सभी तत्त्व 'भेद' सम्बन्ध युक्त हैं। ये सभी तत्त्व 'महामाया' (परमशिव अथवा पराशक्ति) के परिणाम हैं। इससे आगे सदाशिव,

ईश्वर तथा सद्विद्या में भेदाभेद मूलक दृष्टि विराजती है। {१०, श्लो.६/४६} भेद इसलिए क्योंकि चैतन्य के अहं स्फुरण में 'अहं' (= मैं) 'इदं' (= यह) को अपने साथ-साथ पाता है। पृथ्वी से माया तत्त्व तक 'मैं' और 'यह' का भेद बना रहता है। {१०, श्लो.१४६/१५०} किन्तु सद्विद्या से सदाशिव तक 'मैं' में 'यह' मिलने लगता है, किन्तु भेद फिर भी रहता है। अतः 'भेदाभेद' सम्बन्ध होता है। आगे शक्ति और शिव में कोई भेद नहीं रहता । 'यह', 'मैं' के साथ एक भूत हो जाता है तथा 'मैं' में अपनी शक्ति का स्फुरण भी रहता है। इससे आगे तत्त्वातीत स्थिति है। यह वह अवस्था है जिसका तत्त्वों में विचार सम्भव नहीं है। इसे वाणी से अगम्य साहित्य सम्मत ब्रह्मानन्द सहोदर 'रस' की चर्वणा अवस्था कहना सम्यक् प्रतीत होता है। 'चैतन्य' और 'चिति शक्ति' के रूप में शिव-शक्ति के एक दूसरे से मिलने पर जिस आनन्द की स्फुरणा होती है, वह केवल अनुभव ज्ञेय है। {११, टी.-श्लो.६} परन्तु इस मुक्ति से कहीं पर व्यवहार का नाश नही होता है, क्योंकि चिन्मय प्रकाश के लिए सर्वत्र प्रकाश ही है। सत्य ही आत्म रूप में है। असत्, जड़ और 'माया' का कहीं नाम भी नहीं है। {१२, पृ. ३८६-३८७} इस प्रकार शैवों के लिए यह परम तत्त्वातीत अवस्था परमशिव है तथा शाक्तों के लिए 'पराशक्ति' है। {१३, पृ.३११-३१२}

शाक्ततन्त्र की दृष्टि में शक्ति 'जड़' न होकर 'चिति शक्ति' है। विश्व के कण-कण में 'जड़' या 'चेतन' में यह शक्ति विद्यमान भी है तथा पृथक् भी है, अतः 'विश्वात्मिका' तथा 'विश्वोत्पादिका' उभय रूपा है।{१४, पृ.६६}

शाक्ततन्त्र की दार्शनिक व्याख्या में शिव तथा शक्ति में जो घनिष्ठ सम्बन्ध मान्य है, वह प्रमुख रूप से दो प्रकार का है :- शेष-शेषी (या अंगांगी या धर्म-धर्मिणी) तथा सामरस्य (या अद्वैत रूप) । शेष-शेषी सम्बन्ध में भेदाभेद दृष्टि की तथा सामरस्य सम्बन्ध में अभेद दृष्टि की प्रधनता है। वस्तुतः स्थूल दृष्टि से इन दोंनों में विशेष कोई भेद नहीं है। क्योंकि शाक्तों (तथा शैवों की भी) की सम्मति में शिव तथा शक्ति में तत्त्वतः भेद सम्भव ही नहीं है। {११, टी.-श्लो.६, ३४}

'शिव' स्थिर, आधार तथा प्रकाश स्वरूप हैं। 'शक्ति' क्रियामयी, आधेय (शिव रूपी आधर पर स्थित) तथा विमर्श स्वरूपिणी हैं। 'शक्ति' 'शिव' की समवायिनी शक्ति हैं जो शिव में अथवा शिव रूपी आधार पर रहती हैं। {१३, पृ.१४८-१४६} शाक्तों ने शिव और शक्ति के समवाय सम्बन्ध की सूर्य और उसकी रश्मियों के समवाय सम्बन्ध, चन्द्र और चन्द्रिका के समवाय सम्बन्ध अथवा अग्नि और अग्नि की दाहिका शक्ति के रूप में व्याख्या की है। सूर्य की रश्मियाँ जब पृथ्वी पर पहुँचती है तो प्रकाश होता है, सृष्टि होती है। किन्तु यदि रश्मियों की अपेक्षा सूर्य ही पृथ्वी पर पहुँच जाए तो पृथ्वी ही नष्ट हो जाएगी । चन्द्रिका जब पृथ्वी पर पहुँचती है तो शीतलता होती है, सृष्टि का पोषण होता है। किन्तु यदि चन्द्रिका की अपेक्षा चन्द्र स्वयं ही पृथ्वी पर पहुँच जाए तो पृथ्वी ही नष्ट हो जाएगी । इस प्रकार सूर्य और उसकी रश्मियों की भाँति चन्द्र और चन्द्रिका की भाँति, शिव और शक्ति में भेद सम्बन्ध है। साथ ही 'सूर्य' रश्मियों के बिना तेजहीन हो जाते हैं तथा रश्मियाँ सूर्य रूपी आधर के बिना आधारहीन हैं। इसी प्रकार 'शिव' 'शक्ति' के बिना शक्तिहीन अर्थात् शव की भाँति जड़ हैं तथा 'शक्ति' 'शिव' के बिना आधारहीन हैं। अतः शिव शेष हैं तो शक्ति शेषी हैं। शक्ति शेष हैं तो शिव शेषी हैं। इस प्रकार शिव-शक्ति में शेष-शेषी अथवा अंगांगी सम्बन्ध को समझा जा सकता है। शिव अग्नि की भाँति है तथा दाहिका शक्ति अग्नि का धर्म है। इस प्रकार शिव-शक्ति में धर्म-धर्मिणी सम्बन्ध भी है। इसे भेदाभेद अविनाभाव सम्बन्ध भी कहा जाता है क्योंकि शिव न तो शक्ति के बिना रह सकते हैं और न ही शक्ति शिव के बिना रह सकती हैं। {११, टी.-श्लो.३४; १०, श्लो.६/५२}

सामरस्य वह सम्बन्ध है जहाँ शेष-शेषी भाव समाप्त हो जाता है। 'ज्ञान' और 'क्रिया' में शेष-शेषी भाव रहता है। शिव 'ज्ञान' हैं तथा शक्ति 'क्रिया' हैं। जब ज्ञान और क्रिया 'काम' अर्थात् इच्छा में ऐक्य को प्राप्त होते हैं वह इन दोनों के सामरस्य की स्थिति है। इस स्थिति में न तो अंगांगी भाव रहता है और न ही आधाराधेय भाव । जब सामरस्य होता है तो उभय आनन्द से एक अन्य तत्त्व अभिव्यक्त होता है। वास्तव में यह तत्त्वातीत अवस्था है। वाणी से तो इस सम्बन्ध को व्यक्त ही नहीं किया जा सकता है। यह अद्वैतावस्था है। शैवों के लिए यही परमशिव है। शाक्तों विशेष रूप से उत्तर कौल मतानुयायियों के लिए यह पराशक्ति है। {१३, पृ.३११-३१२; ११, टी.-श्लो.६} शाक्तों का इस पराशक्ति के प्रति मातृभाव देखा जाता है। {१५, श्लो.१४}

माता-पिता का अपनी सन्तान के प्रति सहज स्नेह होता है। किन्तु यह लोक व्यवहार में प्रत्यक्ष रूप से देखा जाता है कि सन्तान की माता से जैसी आत्मीयता होती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। न केवल मनुष्यों में अपितु प्रत्येक जीव में सन्तान के शरीर की निर्मात्री तथा पुष्टिदात्री माता ही होती है। प्रत्येक जीव में माता के स्वशरीर के माध्यम से ही सन्तान का जन्म होता है। अथवा जिससे सन्तान का जन्म होता है वही जननी या माता कहलाती है। इस स्थूल सम्बन्ध से सन्तान का शरीर पुष्ट होता है तथा असीम वेदना को सहन करके माता ही सन्तान को अपने से पृथक् नया जीवन प्रदान करती है। मातृगर्भ से बाहर निकलने के बाद भी माता के स्तन्यपान से ही सन्तान की जीवन स्थिर हो पाता है। इस प्रकार सन्तान की सृष्टि में पिता तो बीज रूप में कारण है तथा माता उस बीज का धारण, पोषण तथा पालन करने के कारण सन्तान के लिए सर्वस्व है।

सन्तान की माता से जो अत्यधिक आत्मीयता होती है, उसी के परिणामस्वरूप वह माता से हठ भी कर लेता है किन्तु पिता से तादृश हठ प्रायः सम्भव नहीं हो पाता । अतः जो तत्त्वातीत परमतत्त्व भोग तथा मोक्ष-सभी कुछ प्रदान करने में सक्ष्म है, शाक्तों का उसके प्रति मातृभाव होना स्वाभाविक ही है तथा उसे पराशक्ति मानना भी उचित ही है।

इस प्रकार शिव तथा शक्ति में प्रमुख रूप से भेदाभेद तथा अभेद सम्बन्ध हैं तथा साधकों का चरम लक्ष्य उस अभेदात्मक सम्बन्ध के रूप में स्वत्व की प्राप्ति ही है। शिव तथा शक्ति के सम्बन्धों के दार्शनिक पक्ष का परिचय प्राप्त करके पराशक्ति के काली स्वरूप की भयावहता तथा विध्वंसात्मकता की सार्थकता को भी समझना होगा । काली शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करने पर काली का काल (Time) से घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है। कल् धातु से काल शब्द व्युत्पन होता है तथा स्त्रीत्व की विवक्षा होने पर काली शब्द सिद्ध होता है। काली तो पराशक्ति का स्वरूप है। अतः पराशक्ति के लिए प्रयुक्त काली शब्द का अर्थ होगा कालस्वरूपिणी पराशक्ति । अतः पराशक्ति के काली स्वरूप के विवेचन के लिए काल-तत्त्व के दार्शनिक तथा व्यवहारिक स्वरूप पर भी विचार करना आवश्यक होगा ।

पाणिनीय धतुपाठ के अनुसार बह्वर्थक कामधेनु के समान सकलार्थ-प्रबोधक (कलयति कामधेनुः) {१६, धा.४६७,१६०४,१८६५}कल् धातु के चार अर्थ मुख्य हैं :- कल् विक्षेपे, कल् गतौ (गतिः ज्ञानम्, प्राप्तिश्च) कल् संख्याने, कल् शब्दे। यहाँ गति के द्वयर्थक होने से कल् धतु के मुख्यतया पाँच अर्थ कहे जा सकते हैं।

तारानाथ ने अपने वाचस्पत्यम् कोश में काल शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है-'जो सबका कलन करता है'। इसकी निष्पत्ति उन्होंने चुरादिगण के कल् धातु से अच् प्रत्यय करके तथा निपातन से उपधा दीर्घ करके बताई है।{१७, पृ.१६८२}

संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभकार ने काल का अर्थ 'समय' करते हुए उसको इस प्रकार निष्पन्न किया है-'जो आयु का कलन करता है'। 'कल्' धातु से णिच्+अच+अण् । अथवा जो सब भूतों का कलन करता है। कल् धातु से णिच्+अच्+अण्। {१८, पृ.३१६} 'काल' शब्द का अर्थ वहाँ इस प्रकार स्पष्ट किया गया है- 'समय', 'उपयुक्त समय या अवसर', 'समय का कोई विभाग' (घड़ी, घण्टा आदि)। {१८, पृ. ३१६}

निरुक्तकार यास्क ने काल शब्द को गत्यर्थक 'कालय' से निष्पन्न बताया है। {१६, २/७/२५}

न्याय आदि भारतीय दर्शनों के अनुसार काल अतीत आदि व्यवहार का कारण है, व्यापक तथा नित्य है। {६, पृ.४५} वह उत्पन्न होने वाले पदार्थों का निमित्त कारण है। कालिक परत्व और अपरत्व बुद्धि का निमित्त कारण भी काल ही है। काल यद्यपि एक है किन्तु उपाधिभेद से उसमें अनेकत्व भी विद्यमान है। वह युवा है, वह वृद्ध है, धान्य-बीज एक साथ उत्पन्न हुए, अब यहाँ घट है, तब वहाँ वर्षा हुई थी इत्यादि प्रतीतियाँ क्योंकि सूर्य-परिस्पन्द को विषय करती है। अतः इन पदार्थों के साथ सूर्य-परिस्पन्द का कोई न कोई न सम्बन्ध अवश्य है और वह सम्बन्ध संयोग हो नहीं सकता। {२०, पृ.४६-४७} अतः काल की कल्पना की गई है। काल का सम्बन्ध सूर्य से भी है तथा पदार्थो से भी है । अतः दोनों का (सूर्य तथा उसके परिस्पन्द का) परम्परया सम्बन्ध बनाने वाला द्रव्य काल है। दूसरे शब्दों में सूर्य की क्रिया को अर्थात् उसके परिस्पन्द को शरीर आदि पदार्थ के साथ जोड़ने वाला 'काल' ही है। {५, पृ.४२} अतः परम्परया सूर्य की क्रिया को काल भी कहा जा सकता है। कहने का तात्पर्य है कि सूर्य अथवा पृथ्वी का चलन जिसे परिस्पन्दन भी कहते हैं, वह क्रिया है। इस गतिशीलता अथवा क्रिया के कारण दिन तथा रात्रि के रूप में परिवर्तन होता है। तथा इस दिन-रात्रि के चक्र में ही प्राणियों, वृक्षों और वनस्पतियों तथा जड़ पदार्थों में भी परिवर्तन दिखलाई देता है। चर-अचर में जो परिवर्तन-वृद्धि और क्षय होता है, उसमें प्रमुख कारण दिन-रात्रि का चक्र है। यह दिन-रात्रि का चक्र ही काल है तथा इस काल का मूल सूर्य की क्रिया है। अतः सूर्य की क्रिया ही दिन-रात्रि के रूप में काल कही जाती है।

कालगणना भारतीय ज्योतिष का प्रधान विषय है। {२१, श्लो.१/१/५} सिद्धान्तग्रन्थों में त्रुट्यादि प्रलयान्त काल की गणना की गई है। {२२, श्लो.१/१/६} त्रुट्यादि काल सूक्ष्म है तथा प्राणादि प्रलयान्त काल स्थूल है। {२३, श्लो.१/१०-११} वास्तव में व्यक्तकाल प्राण से प्रारम्भ होता है। त्रुट्यादि काल व्यक्त और अव्यक्त काल के बीच सेतु का कार्य करता है। भारतीय मनीषी व्यक्तकाल की अन्तिम सीमा, प्राणकाल, से परे जहाँ तक काल को पकड़ पाए वह सीमा त्रुटि है।

एक प्रसिद्धि के अनुसार सूक्ष्म काल की परिभाषा इस प्रकार है कि सूची (सूई) से कमल पत्र भेदन में जितना समय लगता है, वह त्रुटि है। साठ त्रुटियों से एक रेणु होता है, साठ रेणुओं से एक लव होता है, साठ लवों से एक लीक्षक होता है तथा साठ लीक्षकों से एक प्राण होता है। {२३, टी.-पृ.७}

इस काल को वर्तमान व्यवहार में आने वाले पाश्चात्य काल से तुलना करके देखा जाए तो बोध में सुगमता रहेगी :-

| **भारतीय काल** | | **पाश्चात्य काल** |
|---|---|---|
| सूच्या पद्मपत्र भेदनकाल | = १ त्रुटि | = १/३२,४०,००० सेकेण्ड |
| साठ त्रुटि | = १ रेणु | = १/५४,००० सेकेण्ड |
| साठ रेणु | = १ लव | = १/६०० सेकेण्ड |
| साठ लव | = १ लीक्षक | = १/१५ सेकेण्ड |
| साठ लीक्षक | = १ प्राण | = ४ सेकेण्ड |

**सूर्य सिद्धान्त के अनुसार स्थूल काल इस प्रकार है :-**

| | |
|---|---|
| ६ प्राण | = १ पल |
| ६० पल | = १ घटी |
| ६० घटी | = १ नाक्षत्र अहोरात्र |
| ३० नाक्षत्र अहोरात्र | = १ नाक्षत्रमास |
| १२ मास | = १ वर्ष |

**प्रमुख रूप से कालमान हैं :- सावन, सौर, चान्द्र, नाक्षत्र, पैत्र, दैव तथा ब्राह्म।**

**(क) सावन मान :-**

एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक का काल पृथिवी पर सावन दिन के नाम से जाना जाता है। {२३, श्लो.१/३६} यह (मध्य मान से) ६० घटी का काल है। तीस सावन दिनों से एक सावन मास तथा बारह सावन मासों अथवा ३६० दिनों से एक सावन वर्ष होता है। {२२, श्लो.१/१/१७-१८}

**(ख) सौर मान :-**

सूर्य पूर्वागति से चलते हुए, मेषादि बाहर राशियों का चक्र जितने काल में पूरा कर लेता है, वह सौर वर्ष है। {२२, श्लो. १/१/१६} इसी प्रकार जितने काल में सूर्य एक राशि चल कर पूर्ण करता है, वह एक सौर मास कहा जाता है। सूर्य का एक राशि से दूसरी राशि में प्रवेश काल 'संक्रमण काल' अथवा 'संक्रान्ति काल' के नाम से जाना जाता है। अतः एक संक्रान्ति से दूसरी संक्रान्ति तक का काल सौर मास है। {२३, श्लो. १/१३} एक राशि के ३० अंश होते हैं। अतः जितने काल में सूर्य एक अंश चलता है, वह एक सौर दिन है। एक अंश में ६० कलाएँ होती हैं तथा एक दिन में ६० घटियाँ । अतः जितने काल में सूर्य एक घटी चलता है, वह काल एक सौर घटी होती है।

**(ग) चान्द्र मान :-**

एक अमावस्या से दूसरी अमावस्या तक का काल एक चान्द्रमास कहलाता है।{२२, श्लो.१/१/१६} यह काल (मध्यमान से) तीस दिन का है। इसमें तीस तिथियाँ होती हैं। {२३, श्लो.१/१३}

वस्तु स्थिति यह है कि सूर्य पूर्वा गति से चलते हुए लगभग तीस दिन में एक राशि अर्थात् उसके तीस अंश चलता है। अतः एक दिन में एक अंश चलता है। चन्द्रमा सूर्य की अपेक्षा शीघ्रगति है। वह पूर्वागति से चलते हुए तीस दिन में (यहाँ दिन से अभिप्राय सावन दिन

से है) सूर्य के तुल्य एक राशि तो चलता ही है, बारह राशियाँ अतिरिक्त चल लेता है और दूसरी राशि के प्रारम्भ में सूर्य के साथ एक ही राशि में आ जाता है। अर्थात् सूर्य से युति कर लेता है। उस दिन दूसरी अमावस्या होती है।

इस प्रकार एक चान्द्रमास में सूर्य तथा चन्द्रमा का अन्तर बारह राशि का होता है। बारह राशियों में ३६० अंश होते हैं। ३६० को ३० पर बाँटा जाए तो ३६०÷३० = १२ अंश होते हैं अर्थात् एक सावन दिन में सूर्य से चन्द्रमा १२ अंश आगे हो जाता है। यह बारह अंश की दूरी जितने काल में होती है उतने काल को एक तिथि कहा जाता है। यह काल एक सावन दिन अर्थात् ६० घटी के लगभग होता है। अतः दोनों की युति अमावस्या है तो दोनों की पहली १२ अंश तक की दूरी का काल शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा है। जिस समय यह दूरी १२ अंश से बढ़कर अधिक होने लगती है। ठीक उसी समय अर्थात् उतने ही बजे अथवा सूर्योदय के बाद उतने घटी पल पर द्वितीया तिथि प्रारम्भ हो जाती है और चन्द्रमा के सूर्य से आगे २४ अंश की दूरी बनाने तक जितना काल लगता है उतने काल तक रहती है। इस प्रकार सूर्यगति तथा चन्द्रगति अथवा सूर्य परिस्पन्द तथा चन्द्र परिस्पन्द में जितने-जितने काल में बारह-बारह अंशों के अन्तर स्थापित हो जाते हैं, वे सब काल तिथि काल हैं। ऐसी तीस तिथियाँ पूर्ण होने पर पुनः सूर्य और चन्द्रमा का संगम हो जाता है जिसे दर्श अर्थात् अमावस्या कहा जाता है-'दर्शः सूर्येन्दुसंगमः'। अमावस्या की समाप्ति से दूसरा चान्द्रमास प्रारम्भ हो जाता है।

**(घ) नाक्षत्र मान :-**

सूर्यादि ग्रहों की कक्षाएँ वृत्ताकार रूप में बारह राशियों अथवा सत्ताईस नक्षत्रों में विभक्त हैं। एक वृत्त में कुल ३६० अंश होते हैं। अतः ३६० को २७ में भाग करने पर मध्यमान से एक नक्षत्र का विस्तार तेरह अंश बीस कला स्थान होता है। एक अंश में ६० 'कला स्थान' होता है। एक घटी में ६० पल होते हैं। ग्रह किस गति से चल रहे हैं? यह जानने के लिए यह देखा जाता है कि कोई ग्रह एक अहोरात्र में अर्थात् ६० घटी काल में कितना 'कला स्थान' चलता है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो यह देखा जाता है कि ग्रह ने नक्षत्र का कितना भाग चला । इस प्रकार नाक्षत्र मान से ग्रहों की गति का सम्यक् ज्ञान हो जाता है। क्योंकि सभी ग्रहों की कक्षाएँ भिन्न-भिन्न हैं, अतः प्रत्येक ग्रह का नाक्षत्रमान भिन्न-भिन्न होता है। फलित ज्योतिष में प्रमुखतया चन्द्रमा के नाक्षत्र मान का विचार किया जाता है।

**(ङ) पैत्र मान :-**

पैत्र अहोरात्र एक चान्द्रमास के तुल्य होता है।{२२, श्लो.१/१/१६; २१, श्लो.२/४; २४, पृ.४} पितृलोक, जो चन्द्रपृष्ठ पर बताया जाता है वहाँ पर एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक का काल तीस तिथियों अर्थात् एक चान्द्रमास का काल है। जब चन्द्र पृष्ठ से सूर्य ९० अंश दूर होता है तब वहाँ सूर्योदय होता है। जब सूर्य और चन्द्रमा एक राशि में इक्ट्ठे हो जाते हैं तब वहाँ मध्याह्नकाल होता है। पुनः जब चन्द्रमा सूर्य से ९० अंश दूर चला जाता है। तब वहाँ सूर्यास्त होता है।

चन्द्रमा और सूर्य का १२ अंश का अन्तर एक तिथि कही जाती है। अतः चन्द्रमा जब सूर्य की ओर बढ़ते हुए, साढ़े सात तिथियाँ पीछे होता है अर्थात् (साढ़े सात) ७ १/२ (तिथि) गुणा १२ अंश = ९० अंश दूर रह जाता है, तब वहाँ सूर्योदय होता है। यह स्थिति कृष्णपक्ष की अष्टमी का आधा भाग बीतने पर आती है। पुनः साढ़े सात तिथियाँ बीतने पर अमावस्या को वहाँ मध्याह्न होता है। पुनः साढ़े सात तिथियाँ बीतने पर शुक्ल पक्ष की अष्टमी के मध्य में वहाँ सूर्यास्त होता है। इस प्रकार पन्द्रह तिथियों का दिन तथा पन्द्रह तिथियों की रात्रि होती है। पूर्णिमा के दिन वहाँ आधी रात होती है। अतः पृथ्वी पर एक चान्द्रमास से एक पैत्र अहोरात्र तथा ३० चान्द्रमासों का एक पैत्र मास होता है। इस तरह चान्द्रमासों से पैत्र मान का बोध सम्भव है।

**(च) दैव मान :-**

सूर्य जितने काल में पूर्वा गति से चलते हुए बारह राशियों में भ्रमण करता है, वह समय एक सौरवर्ष है। {२२, श्लो.१/१/१६} यह सौर वर्ष देवताओं तथा असुरों का एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक का काल है। अतः एक सौर वर्ष देवताओं तथा असुरों का अहोरात्र है।

जब सूर्य क्षितिज से ऊपर होता है तब तक दिन रहता है, जब सूर्य क्षितिज से नीचे चला जाता है तब रात्रि होती है। उत्तरध्रुव देवस्थान है तथा दक्षिणध्रुव दैत्यस्थान है। {२३, टी.-श्लो.१/१३} 'भूमध्यरेखीयवृत्त' अर्थात् 'नाडीवृत्त' से ये दोनों स्थान ९०-९० अंश दूर है। अतः इन दोनों स्थानों के निवासियों के लिए नाडीवृत्त अर्थात् भूमध्यरेखीयवृत्त क्षितिजवृत्त है। अतः सूर्य जब क्रान्तिवृत्त में भ्रमण करते हुए मेष के प्रथम अंश में प्रवेश करता है। उस समय वह नाड़ीवृत्त को स्पर्श करते हुए उत्तर गोल में प्रवेश करता है। उस समय देवों का सूर्योदय तथा असुरों का सूर्यास्त होता है । जब तीन मास उपरान्त सूर्य कर्क के प्रारम्भ में प्रथम अंश पर पहुँचता है, उस समय देवों का मध्याह्न होता है तथा असुरों की अर्द्धरात्रि होती है। इसी प्रकार तुलादि में पहुँचकर सूर्य नाडीवृत्त को स्पर्श करते हुए दक्षिण गोल में प्रवेश कर जाता है। उस समय देवों का सूर्यास्त तथा असुरों का सूर्योदय होता है। इसी प्रकार सूर्य के मकरादि में पहुँचने पर देवों की अर्द्धरात्रि तथा असुरों का मध्याह्न होता है। इस प्रकार एक मानव वर्ष में देवासुरों का एक अहोरात्र होता है तथा ३६० सौर वर्ष काल उनका एक वर्ष होता है। {२३, श्लो.१/१३}

**(छ) ब्राह्म मान :-**

कृत, त्रेता, द्वापर, कलियुग इन चारों को युग कहा जाता है। यथा-कृतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग तथा कलियुग। इन चारों का मान बारह सहस्र दिव्य वर्ष है। अर्थात् १२००० गुणा ३६० = ४३,२०,००० (तैंतालीस लाख बीस हजार) वर्ष। {२३, श्लो.१/१५} इन वर्षों का दशांश अर्थात् ४,३२,००० को चार से गुणा करके कृतयुग, तीन से गुणा करके त्रेतायुग तथा दो से गुणा करके द्वापरयुग एवम् एक से गुण करके कलियुग का मान होता है। {२३, श्लो.१/१७}

अतः कृतयुग = १७,२८,००० सत्रह लाख अट्ठाईस हजार वर्ष
त्रेतायुग = १२,९६,००० बारह लाख छयानवे हजार वर्ष
द्वापरयुग = ८,६४,००० आठ लाख चौंसठ हजार वर्ष
कलियुग = ४,३२,००० चार लाख बत्तीस हजार वर्ष

कृतयुगादि इन चार युगों के समूह को महायुग कहा जाता है। इकहत्तर महायुगों के समूह को मन्वन्तर कहते हैं। प्रत्येक मन्वन्तर के अन्त में कृतयुग के मान के समान काल का सन्धिकाल रहता है, जिसमें जल प्रलय रहता है। {२३, श्लो.१/१८}एक कल्प में चौदह मनु

होते हैं और प्रत्येक मनु अर्थात् मन्वन्तर में इकहत्तर महायुग होते हैं। इस प्रकार एक कल्प में ७१ गुणा १४ = ९९४ नौ सौ चौरानवे महायुग हुए। प्रत्येक मन्वन्तर के अन्त में कृतयुग के मान के समान काल तक सन्धिकाल रहता है। {२३, श्लो.१/१९} एक कृतयुग के मान के समान काल तक सन्धिकाल कल्प के आदि में होता है। इस प्रकार पन्द्रह कृतयुगों का मान छः महायुगों के बराबर होता है। अतः एक कल्प का काल ९९४+६=१००० एक सहस्र महायुगों का हुआ अर्थात् (४३२०००० गुणा १००० = ४३२००००००००) चार अरब बत्तीस करोड़ वर्षों तक कल्प काल होता है। इतने ही काल तक सृष्टि भी रहती है तथा व्यक्त काल, अनित्य काल भी रहता है। उसके अनन्तर प्रलय होने पर व्यक्त काल का भी नाश हो जाता है। यह सृष्टिरूपेण कल्पकाल ब्रह्मा का दिन कहलाता है तथा प्रलयरूपेण कल्प ब्रह्मा की रात्रि कहलाती है। इन दो कल्पों से ब्रह्मा का एक अहोरात्र होता है। {२३, श्लो.१/२०}

किसी भी क्षितिज से ऊपर जब तक सूर्य दिखाई देता रहता है, तब तक उसका दिन होता है। अतः पृथिवी से बहुत दूर सूर्य मण्डल में स्थित ब्रह्मा के लिए पूर्ण सृष्टि काल तक सूर्य अस्त ही नहीं होता । अतः सकल सृष्टिकाल ब्रह्मा का दिन है। {२३, टी.श्लो.१/२०} और प्रलय काल में सूर्य के भी लय हो जाने पर ब्रह्मा की रात्रि होती है। अतः कल्पद्वय से एक ब्राह्म अहोरात्र होता है। मास-वर्ष आदि की पूर्व परिभाषा के अनुसार विचार करें तो ३० दिनों से एक मास तथा १२ मासों से एक वर्ष होता है। कल्पद्वय से एक ब्राह्म अहोरात्र होता है। अतः ३० कल्पद्वय से एक ब्राह्म मास होता है। १२ मासों अर्थात् ३६० कल्पद्वय से एक ब्राह्म वर्ष तथा सौ वर्ष ब्रह्मा की पूर्ण आयु कही गई है।

अतः ४,३२,००,००,००० सौर वर्ष = कल्प

कल्प गुणा २ = ब्राह्म अहोरात्र

कल्पद्वय (ब्राह्म अहोरात्र) गुणा ३६० = ब्राह्म वर्ष = ७२० कल्प

७२० कल्प (ब्राह्म वर्ष) गुणा १०० = पूर्ण ब्राह्म आयु = ७२००० कल्प ।

अतः ४३२००००००० गुणा ७२००० = ३११०४०००००००००० सौर वर्ष (इक्कतीस हजार एक सौ चार अरब सौर वर्ष)

अतः इक्कतीस हजार एक सौ चार अरब सौर वर्ष ब्रह्मा की पूर्ण आयु है। {२३, श्लो.१/२१} ब्रह्मा की पूर्णायु को ही महाकल्प कहा जाता है। {२२, श्लो.१/१/२५}

इस प्रकार भारतीय ज्योतिष में त्रुटि से लेकर महाकल्प तक काल के भिन्न-भिन्न विभागों का विस्तृत विचार किया गया है। इन सभी विभागों में त्रुटि सर्वाधिक सूक्ष्म तथा महाकल्प सर्वाधिक स्थूल विभाग है। किन्तु यदि यह प्रश्न किया जाए कि क्या त्रुटि से नीचे काल सम्भव नहीं है अथवा क्या महाकल्प के ऊपर काल की गणना नहीं हो सकती, तो यही कहा जा सकता है कि वास्तव में काल अपने अखण्ड रूप में अनादि से अनन्त तक फैला हुआ है। यह अत्यन्त सूक्ष्म भी है तथा अत्यधिक स्थूल भी है। न तो इसके सूक्ष्म रूप की ही कोई सीमा हो सकती है और न ही स्थूल रूप की ।

इस काल की अनेक विशेषताओं में दो विशेषताएँ अतिमहत्त्वपूर्ण हैं। एक तो यह कि काल के परिवर्तन अपरिवर्तनीय है और दूसरे यह कि प्रतिपल क्रिया के माध्यम से होने वाले परिवर्तनों से ही काल को समझा जा सकता है। अतः काल क्रियाशील तथा परिवर्तनशील है।

काल के द्वारा प्रतिपल प्राणियों की आयु का संहार किया जाता है। बालक बाल्यवस्था से युवावस्था पुनः, वृद्धावस्था तथा अन्त में मृत्यु तक को प्राप्त करता है। सम्पूर्ण सृष्टि में ऐसा कोई तत्त्व या पदार्थ नहीं है जो परिवर्तन शून्य रह सके। यही कारण है कि श्रीमद्भगवद्गीता ने कर्म का विचार करते हुए कहा है कि विश्व में ऐसा कुछ भी नहीं है जो अक्रिया या निष्क्रियता की स्थिति में खड़ा हो सके। {२५, श्लो.३/५} अतः यह कहा जा सकता है कि काल प्रतिपल प्राणियों को मृत्यु की ओर ले जा रहा है।

अतः काल-तत्त्व के विवेचन से यह प्रतिपादित होता है कि काल कलनात्मक है। यह प्रत्येक वस्तु तथा विषय का निरन्तर संहार करता रहता है। त्रुटि से लेकर महाकल्प पर्यन्त परब्रह्म की विशाल आयु सभी कुछ काल में ही व्याप्त है। अतः यह बृहद् रूप में महाकाल कहा जा सकता है। यह सभी का कलन करने से महाकाल कहलाता है। अर्थात् समस्त प्रपंच का जो लय है, वही संहार है तथा वह भी अखण्ड काल का ही एक रूप है क्योंकि समस्त सृष्टि दिनात्मक हो तो संहार रात्र्यात्मक है। यह बृहद् दिन-रात्रि ही तो महाकाल का स्वरूप है। इस महाकाल में सभी कुछ अपने में लय तथा पुनः सृष्टि करने की जो शक्ति है, यही महाकाली है। {२६, श्लोक ४/३०-३४} । अतः भयावह काली स्वरूप, अखण्ड काल की संहार शक्ति का मूर्त्त स्वरूप है।

प्रत्येक गोलवृत्त में ३६० अंश माने जाते हैं। उसमें ९०-९० अंश के चार विभाग माने जाते हैं। यही उस वृत्त की चार भुजाएँ हैं। इन्हीं को 'ख स्वस्तिक' कहा जाता है। अतः पूर्ण वृत्त में चार भुजाएँ होती हैं। {१४, पृ.१२४} । नक्षत्र चक्र वृत्ताकार है। अतः चतुर्भुजात्मक है। इस वृत्त में पृथ्वी के भ्रमण से दिन-रात्रि के रूप में काल की गति होती है। इसके साथ ही सम्पुर्ण ब्रह्माण्ड भी वृत्ताकार है। इसमें अरबों ताराएँ गतिशील हैं। अतः काल स्वरूपिणी-पराशक्ति अनन्ताकाश रूप महा अवकाश में चतुर्भुज रूप में परिणत होकर ही विश्व का संहार करती हैं।

काली स्वरूप में चार भुजाओं का एक अन्य अर्थ भी सम्भव है। शाक्तों के अनुसार पराशक्ति अपने निष्काम साधकों के लिए एक हाथ में ज्ञानरूपी खड्ग से मोहपाश को काटकर दूसरे हाथ में रजोगुण से रहित तत्त्वज्ञान के आधार मस्तक (नरमुण्ड) को धारण करती है। वही पराशक्ति अपने सकाम साधकों के लिए एक हाथ में अभय तथा दूसरे में अभीष्ट को धारण करती है। {४, टी.-श्लो.४ }।

इस प्रकार पराशक्ति के काली स्वरूप की चार भुजाएँ एक ओर तो महावृत्त की चार प्रमुख दिशाओं की प्रतीक हैं जिनमें काल की निरन्तर गति होती है तथा दूसरी ओर परातत्त्व पराशक्ति के भोग तथा मोक्ष प्रदान करने के सामर्थ्य को भी प्रदर्शित करती हैं।

**'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** के अनुसार पराशक्ति विश्व निर्माण करके उसके भीतर प्रविष्ट हो जाती है। विश्व से उस शक्ति का आवरण हो जाता है। अतः विश्व ही उसका वस्त्र है। परन्तु विश्वनाश अर्थात् प्रलयकाल में वह स्व-स्वरूप से उत्कट रहती है। उस स्थिति में आवरण का अभाव होता है। वहाँ केवल दिशाएँ ही वस्त्र हैं। अतः पराशक्ति को दिगम्बरी कहा गया है। {१४, पृ.१२४}। नग्नावस्था इस बात की भी परिचायक है कि पराशक्ति परब्रह्मस्वरूपिणी है, अतः सदा ही माया के आवरणों से शून्य, मायातीत रहती है। {४, टी.-श्लो.७}

काल स्वरूपिणी तथा परब्रह्मस्वरूपिणी होने के साथ ही पराशक्ति शब्दब्रह्मस्वरूपिणी भी है। अ, इ, उ, इत्यादि वर्णमाला से शब्दब्रह्म आवृत्त रहता है। अतः शब्दब्रह्म के लिए वर्णमाला ही आवरण है। कंठ से ऊपर का भाग प्राणियों के ज्ञान का द्योतक होता है। वर्णों से ज्ञान

अभिव्यक्त होता है। अतएव शब्द ब्रह्म के मूर्त्त काली स्वरूप में मुण्डमाला के रूप में वर्णमाला (अक्षर माला) ही आवरण है। {४, टी.-श्लो. ६; २७, श्लो.१/६} ।

रक्तवर्ण रजोगण का प्रतीक है। श्वेतवर्ण सत्त्वगुण का प्रतीक है। रजोगुण की प्रतीक रक्त जीह्वा को सत्त्वगुण के प्रतीक श्वेत तीक्ष्ण द्रंष्टा से दबाकर रखने का यही अर्थ प्रतीत होता है कि पराशक्ति सत्त्वगुण से रजोगुण तथा तमोगुण का नाश करती हुई साधक को निर्वाण प्रदान करती है। {४, टी.-श्लो.४} ।

सभी जीव कल्प की समाप्ति में अपनी स्थूल देहों का त्याग करके अपने-अपने कर्मों के साथ लिंग देह में आश्रित होकर सगुण ब्रह्मस्वरूपिणी पराशक्ति की कारण देह के अविद्यामय अंश में पुनः कल्प के आरम्भपर्यन्त मोक्ष तक ठरहते हैं। अतएव कर्म के प्रधान साधनभूत कर समूह को विराट्रूपिणी पराशक्ति के गर्भधारण योग्य निम्नोदर के तथा योनि के ऊपर स्थित कटि प्रदेश में कांची के रूप में बतलाया गया है। पुनः कल्प के आरम्भ में जीवों के स्व-संचित कर्म के अनुसार पुनर्जन्म तथा भोगों के विधान करने के कारण काल स्वरूपिणी पराशक्ति को विधात्री कहा जाता है। {४, टी.-श्लो.७} ।

महाप्रलय में सभी प्राणी तथा पंचमहाभूत महाकाश में लीन हो जाते हैं। काली की आवासभूमि श्मशान उसी महाकाश का प्रतीक है। 'सदाशिव' निर्गुण ब्रह्म हैं। निर्गुण ब्रह्म ही चिदात्मा पराशक्ति के आधार हैं। निर्गुण ब्रह्मरूप स्वत्व में अवस्थित चिदात्मा पराशक्ति कल्प के अवसान में सृष्टि आदि कार्य के अभाव में निष्क्रिय होने से परमशिव महाकाल के साथ अभिन्न रूप से अखण्ड आनन्द को अनुभव करती है। इस प्रकार श्मशान में शव (निर्गुण ब्रह्मरूप सदाशिव) के हृदय पर स्थित महाकाल (परमशिव) के साथ रतिक्रीडा में संलग्न पराशक्ति के काली स्वरूप का रहस्यार्थ है कि पराशक्ति सच्चिदानन्दस्वरूपिणी है जो कल्प की समाप्ति में स्वत्व में ही लीन रहती है। {४, टी.-श्लो.७ } इस प्रकार शिव-शक्ति के सम्बन्ध के तात्त्विक पक्ष को ही पराशक्ति काली स्वरूप में मूर्त्त रूप प्राप्त हुआ है।

कल्प के अवसान में पंचमहाभूत अपंचीकृत अवस्था में रहते हैं। ये अतीव दुर्द्धर्ष पंचमहाभूत ही महाप्रलय के महा आकाश रूप श्मशान की भयंकर शिवाएँ हैं। अस्थि कंकाल श्वेतवर्ण के कारण सत्त्वगुण के प्रतीक हैं। अतएव महाप्रलय में 'पराशक्ति' मृत जीवों के सत्त्वादिगुण समूहों से अत्यन्त संकीर्ण (प्रकटित) 'चिता शक्ति' (अर्थात् चिच्छक्ति) में रहती है। अर्थात् चिदात्मा पराशक्ति महाप्रलय में चिच्छक्ति अर्थात् अपने ही स्वरूप में अवस्थित रहती है।

परमशिव केवल बीजरूप में सृष्टि के जनक हैं। किन्तु क्योंकि पराशक्ति इच्छा-ज्ञान-क्रिया स्वरूपिणी हैं। अतः सृष्टि, स्थिति तथा संहार तो पराशक्ति अपनी इच्छा से करती हुई आनन्दित होती है। अतः इस भाव को मूर्त्तरूप प्रदान करने के लिए काली स्वरूप में पराशक्ति को परमशिव के साथ विपरीत रति में संलग्न बतलाया गया है। {४, टी.-श्लो.८} यह काल स्वरूपिणी होने पर स्वयम् अखण्डकालमयी अव्यया है। अतः पराशक्ति को अतीयुवति कहा गया है। इस प्रकार पराशक्ति चिदानन्दमयी अर्थात् चिच्छक्ति तथा परानन्दस्वरूपिणी हैं।

**इस प्रकार पराशक्ति सच्चिदानन्दमयी, परबह्मस्वरूपिणी, शब्दब्रह्मस्वरूपिणी तथा कालस्वरूपिणी है।** यह विश्वात्मिका भी है। विश्वोत्पादिका भी है तथा विश्वातीता भी है। पराशक्ति का काली स्वरूप पराशक्ति की इन सभी विशेषताओं का मूर्त्त स्वरूप है। विशेष रूप से प्रलयकाल के भीषण भयावह अवस्था का मूर्त्त स्वरूप प्रस्तुत करता है जिसमें परातत्त्व-'सच्चिदानन्द स्वत्व' में लीन रहता है। काली स्वरूप के तात्त्विक पक्ष को जानकर 'देवो भूत्त्वा यजद्देवम्' के अनुसार साधक जब देवतावत् होने का प्रयत्न करता है तो वह नग्न हो श्मशान में चिता पर बैठकर अस्थि-कंकाल से युक्त हो रतिक्रीडा में संलग्न नहीं होता; अपितु पराशक्ति के काली स्वरूप का तत्त्वज्ञ साधक तो काम-क्रोध-लोभ आदि विकारों की बलि देकर, माया के आवरण से शून्य हो स्वत्व में लीन होता है। श्मशान में जाने की अपेक्षा साधक के लिए सम्पूर्ण सृष्टि ही अखण्ड काल की संहार स्थली श्मशान भूमि हो जाती है। जिसमें प्रतिपल काल के द्वारा चर-अचर की आयु का कलन करते हुए मृत्यु की ओर ले जाया जा रहा है। इस प्रकार शाक्ततन्त्र में निहित पराशक्ति का काली स्वरूप तथा इनकी साधना पूर्णतया भारतीय संस्कृति के उज्जवल स्वरूप को प्रस्तुत करती है।

इस पत्र का प्रमुख उद्देश्य शाक्ततन्त्र में स्वीकृत पराशक्ति के काली स्वरूप की भयावहता एवं विचित्रता में निहित तात्त्विक पक्ष से अवगत होना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो कुछ भी विनम्र प्रयास किया गया है सम्भवतः उसकी यत्किंचिदुपलब्धि के रूप में प्रस्तुत पत्र शक्ति के प्रारम्भिक साधकों के साथ ही शक्तितत्त्व के जिज्ञासुओं के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगा। किन्तु यह विषय इतना गहन एवं व्यापक है कि इस पत्र में केवल कुछ संकेतमात्र ही प्रस्तुत हो पाएँ हैं। अतः शोध छात्र के अनुसार पराशक्ति के वैज्ञानिक तथा तात्त्विक रहस्य के अन्तर्मम के अवबोध के लिए श्री सर जॉन वुडरफ के 'द गार्लैण्ड ऑफ लैटर्स' (The Garland of letters), श्रीस्वामी विमलानन्द द्वारा रचित 'कर्पूरादि स्तोत्र की संस्कृत टीका' तथा डॉ गोपीनाथ कविराज द्वारा रचित 'तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त' जैसे प्रौढ ग्रन्थों का आश्रय आवश्यक रूप से लिया जाना चाहिए।

## संदर्भ :-

1. Williams, Sir Monier Monier-A Sanskrit-English Dictionary, Oxford Univerisity Press, London, 1956.
२. शास्त्री, पं० रामानारायणदत्तजी-श्रीदुर्गासप्तशती, गीताप्रेस, गोरखपुर, २००१ ।
३. बहादुर, राजादेवनन्दनसिंह-शाक्तप्रमोद, खेमराजश्रीकृष्णदास, बम्बई, २००६ ।
४. स्वामी, विमलानन्द/एवलॉन, ऑर्थर-कर्पूरादिस्तोत्रम्, आगमानुसन्धान समिति, कलकत्ता, १६२२ ।
५. प्रशस्तदेव, शास्त्री, आचार्य ढुण्ढ़िराज/मिश्र, नारायण-प्रशस्तपादभाष्यम्, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १६६६ ।
६. भट्ट, अन्नम्/शास्त्री, गुरुप्रसाद-तर्क-संग्रह, भार्गव पुस्तकालय, काशी, १६३६ ।

७. ईश्वरकृष्ण/मिश्र, वाचस्पति/मिश्र, डॉ० आद्याप्रसाद-सांख्यतत्त्वकौमुदी-प्रभा, सत्यप्रकाशन, इलाहाबाद, १९९२ ।
८. शंकराचार्य/शर्म्म, पं० चन्द्रशेखर-विवेकचूडामणि, खेमराजश्रीकृष्णदास, मुम्बई, १९०५ ।
९. शंकराचार्य/षट्शास्त्री, स्वामी श्रीहनुमानदासजी-ब्रह्मसूत्राशांकरभाष्यम्, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९४ ।
१०. गुप्त, अभिनव/जयरथ/शास्त्री, पं० मधुसूदन कौल-तन्त्रालोक, काश्मीर संस्कृत सीरीज, काश्मीर, १९१८ ।
११. शंकराचार्य/लक्ष्मीधर/मालवीय, डॉ० सुधाकर-सौन्दर्यलहरी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, २००९ ।
१२. मिश्र, म० म० डॉ० उमेश-भारतीय दर्शन, हिन्दी समिति (सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश), लखनऊ, १९७० ।
१३. कविराज, म० म० डॉ० गोपीनाथ-तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, १९७६ ।
१४. पोद्दार, हनुमान प्रसाद/गोस्वामी, चिम्मनलाल-कल्याण शक्ति-अंक वर्ष ९ संख्या १, गीताप्रेस, गोरखपुर, २००७ ।
१५. मखिन, भास्करराय/एवलन, आर्थर-कौल एण्ड अदर उपनिषद्, आगमानुसन्धन समिति संस्कृत प्रेस डेपोसीटरी, कलकत्ता, १९२२ ।
१६. पाणिनी/शर्मा, पं० कनकलाल-धातुपाठ, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९९६ ।
१७. भट्ट, तारानाथ-तर्कवाचस्पति-वाचस्पत्यम्, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९९२ ।
१८. झा, द्वारकाप्रसाद-तारिणीश-संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ, रामनारायण लाल, इलाहाबाद, १९५७ ।
१९. परिब्राजक, स्वामी ब्रह्ममुनि-निरुक्त सम्मर्श, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय/आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर, १९९६ ।
२०. शास्त्री, आचार्य विश्वनाथ-कणाद-गौतमीयम् 'पदार्थानुशासनम्', भारतीय संस्कृत भवन, जालन्धर, २००३ ।
२१. वटेश्वराचार्य-वटेश्वर सिद्धान्त, इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ ऑस्ट्रोनोमिकल एण्ड संस्कृत रिसर्च, नई दिल्ली, १९९२ ।
२२. भास्कराचार्य/शास्त्री, बापूदेव/शास्त्री, गणपतिदेव-सिद्धान्तशिरोमणि, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, २००५ ।
२३. शास्त्री, कपिलेश्वर-सूर्यसिद्धान्त, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, १९४६ ।
२४. शर्मा, रूपनारायण/शुक्ल, उमाशंकर-बृहज्ज्यौतिषसार सामुद्रिकादि-वैशिष्ट्य सहित, ठाकुर प्रसाद पुस्तक भण्डार, वाराणसी ।
२५. गोयन्दका, जयदयाल-श्रीमद्भगवद्गीता तत्त्वविवेचनी हिन्दी-टीकासहित, गोविन्दभवन कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर, १९८३ ।
२६. भारती, हरिहरानन्द/एवलॉन, ऑर्थर-महानिर्वाणतन्त्र, ल्यूज़ैक एण्ड कम्पनी (Luzac and Co.),कलकत्ता, १९२९ ।
२७. डिज़कोविस्की, मार्क एस० जी० (Mark S.G. Dyczkowski)-कामधेनुतन्त्र, मुक्तबोध इण्डोलॉजिकल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, नई दिल्ली, २००८ ।

**।। इति शम् ।।**